International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
Volume-8, Issue-2 March-April- 2021 P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org Email- editor@ijesrr.org

लोक साहित्य में हिंदी का अन्वेषण: स्थानीय परिप्रेक्ष्य

डॉ लोकेश कुमार शर्मा

सह आचार्य हिंदी,राजकीय महाविद्यालय टोंक

सार

लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक- साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। डॉ॰ सत्येन्द्र के अनुसार- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।" साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोकसाहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अतः जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अतः यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है।

खोजशब्द: *लोक- साहित्य, जनसाहित्य, लोककलाएं*

प्रस्तावना

लोक-साहित्य 'लोक' और 'साहित्य' दो शब्दों से मिलाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-लोक का साहित्य। लोक-साहित्य मूलतः लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है, जो संपूर्ण जीवन का नेतृत्व करती है। प्रख्यात लोकसाहित्यविद् प्रफुल्ल कुमार सिंह मौन के अनुसार, लोक-साहित्य की यात्रा को चार चरणों में देखा जा सकता है। इसका पहला पड़ाव है-संस्कारगत अनुष्ठान, देवी-देवताओं के गह्वर, नाट्य मंच, पर्व-त्योहार, मेले और खेत-खलिहान आदि। दूसरा पड़ाव है-संकलन एवं सर्वेक्षण। तीसरा पड़ाव है-अध्ययन-अनुशीलन और चौथा पड़ाव है-प्रस्तुतीकरण के माध्यम-रूप यथा, आकाशवाणी, दूरदर्शन, पुस्तक एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि। उनकी दृष्टि में लोकसाहित्य की गुजरकर होती है। इस पाठ में लोक-साहित्य के दूसरे पड़ाव को केंद्र में रखा गया है।

लोक साहित्य

लोकसाहित्य लोकजीवन की अभिव्यक्ति है वह जीवन से घनिष्टता से संबंधित है। लोकसाहित्य एक पारिभाषिक शब्द है जो लोक तथा साहित्य से मिलकर बना है। लोक शब्द आंरभिक साहित्य में वेद के साथ भी मिलता है। लोक वेद की चर्चा भी सुनी जाती है किन्तु वेद में कही गई बात वैदिक और लोक में कही बात लौकिक होती है। इस प्रकार सारी पौराणिक कथाएं वैदिक और वेद से भिन्न सारी कथाएं लौकिक कहलाएंगी। वास्तव में लोकसाहित्य शब्द अंग्रेजी के फोकलिटरेचर का अनुवाद है। सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली की सभ्यता के लिए ऐसे शब्दों जैसे लोकवाता , लोकसंगीत आदि में इसका अर्थ संकुचित होकर अंचलीय तथा मुख्य धारा से कटे ग्रामीण संस्कृति के लिये प्रयोग में लाया जाता है। 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वे लोक तत्व कहलाते हैं।

अंग्रेजी में थ्वसा सवअम का पर्याय लोकवार्ता को माना जाता है। इसके पहले पापुलर एण्टीक्विटीज शब्द प्रयोग में लाया जाता था। लोकवार्ता का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- (1) लोगों की अलिखित परम्परा की सामग्री जो साहित्यिक संस्कारों से अनभिज्ञ तथा अनगढ़ होती है तथा कथा साहित्य, रिवाज, विश्वास आदि में मिलती है

तथा (2) वह विज्ञान जो इन सामग्रियों का अध्ययन करना चाहता है।

इस प्रकार लोकवार्ता ऐतिहासिक विज्ञान के बहुत निकट है। इससे मनुष्य के अतीत पर प्रकाश पड़ता है और सदैव अनुमान और कल्पना के प्रयोग के अतिरिक्त उसके सिद्धीकरण के लिये वैज्ञानिक प्रकिया का आधार चुना जाता है। लोकवार्ता का क्षेत्र विस्तृत है। लोकसाहित्य लोकवार्ता का पर्याय नहीं है। मराठी में इन्हें पर्याय माना जाता है। लोकवार्ता में लोककलाएं, लोक अनुष्ठान, लोकमार्ग, तथा लोक साहित्य सभी आते हैं।

लोकसाहित्य लोकवार्ता के अन्य भागों से पृथक नहीं है। विविध लोकगीत तथा लोक कहानियां अनुष्ठानों से संबंधित भी होती हैं। जैसे - विशेष व्रतों पर कहीं जाने वाली कहानियां। लोककला (चित्रकला) लोकनुष्ठान आदि भी इसी से संबंधित हैं। इस तरह लोक साहित्य लोकवार्ता का एक अंग ही सिद्ध होता है।

लोकसाहित्य के अंतर्गत वे समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती हैं जिसमें आदिम संस्कृति के अवशेष हों । परम्परागत मौखिक कम से उपलब्ध बोली तथा भाषागत अभिव्यक्ति हो तथा जिसे श्रुति माना जाता हो। जो लोकमानस की प्रवृत्ति में समाई हो तथा जिसका रचनाकाल तथा कृतिकार स्पष्ट न हो। ऐसे साहित्य को किसी विशेष कृतिकार से नहीं जोड़ा जा सकता। कृतित्व को किसी व्यक्तित्व के साथ संबद्ध करके भी लोक स्वयं का माने तथा वह लोकमानस द्वारा सामान्यतः स्वीकार्य हो।

लोक साहित्य का आशय वैदिक काल से 'लोक' शब्द प्रचलित है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में यह शब्द आया है। वैदिक काल में ही वेद और लोक शब्दावली अपनी-अपनी पृथक सत्ता स्पष्ट कर देती है। पाणिनि ने वेद और लोक शब्दों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का बोध कराया है। नाट्य शास्त्रकार भरतमुनि नाट्यधर्मी और लोकधर्मी प्रवृत्तियों को भिन्न बताते उनका उल्लेख करते हैं। महाभारत में व्यास जी स्पष्ट कर देते हैं कि प्रत्यक्षदर्शी लोक ही सारे विश्व को सर्वप्रकार से देखने वाला होता है, प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्तरः । इसी प्रकार गीता (15-18) में भी वेद और लोक का महत्व अलग-अलग प्रतिपादित किया गया है, 'अतोऽअस्मि लोके वेदे च प्रचितः पुरुषोत्तमः। भारतीय चिन्तन में 'लोक' शब्द के तात्पर्य को संगत रूप से स्पष्ट करने वाला एक अन्य शब्द 'जन' है।

'जन' का प्रयोग अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में देखा जा सकता है। 'जनं विभ्रति बहुया विवाचसं । नाना धर्माणं पृथिवी यथोकसम् ।' यही मानव मात्र की और इंगित करने वाला 'जन' शब्द, सम्राट अशोक के सप्तम और अष्टम शिलालेखों में स्थान पाता है। जहां सम्राट जनपदवासियों से सम्पर्क करने निकलता है। यह 'जन' उस साम्राज्य के सारे निवासी हैं जो नगर, ग्राम आदि में बसते हैं। इन विवेचन से यह निष्कर्ष सहज में ही निकलता है कि लोक और जन का अर्थ सारे निवासियों से है जो कहीं भी बसते हों।

उद्देश्य

1. लोक-साहित्य की विशेषताओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. लोक-साहित्य के संकलन, संरक्षण की चुनौतियों का रेखांकन कर सकेंगे।

लोक-साहित्य का विकास एवं क्षेत्र

लोकवार्ता में किसी न किसी रूप में किसी प्राचीन युग की झलक मिल सकती है। वह कहानी- कार की मौलिक कल्पना नहीं होती बल्कि किसी प्राचीन कल्पना का रूपान्तर होती है और उसकी विविध निर्माण-वस्तुओं में ऐसी अद्‌भुत असम्भावनाओं का समावेश होता है कि वे किन्हीं अन्य तत्वों की व्याख्या के द्वारा ही अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण कर पाती है। इन लोकवार्ताओं के कथा-तत्वों को समझने के लिए इनमें निहित रहस्य का उद्‌घाटन आवश्यक है।

लोकवार्ता में, मानव की आदिम स्थिति से आजतक के विकास की विविध अनुभूतियों का ज्ञान हो जाता है। लोकवार्ता में लोकमानस जितनी शुद्ध अवस्था में प्रतिबिम्बित और सुरक्षित रहता है उतना वह किसी अन्य माध्यम में नहीं रहता।

वास्तव में लोक-मानस का प्राचीनतम रूप इसमें निहित रहता है। लोक मानव उनमें प्राण-प्रतिष्ठता नहीं कर सकता था। वह उनके अस्तित्व में ही विश्वास करता था। वह स्थूल दृष्टि से अपनी कसौटी द्वारा मानवेतर सृष्टि के व्यापारों और वस्तुओं को ग्रहण करता था। उसका यह बोध एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न होता था। इन्हीं मानसिक अनुभावों को उसकी भाषा व्यक्त करती थी। भाषा का स्वभाव इन्हीं संस्कारों के अनुकूल था।

लोक साहित्य के संग्रहण की आवश्यकता एवं प्रयास

लोक साहित्य नगर में हो अथवा गांव में वह लोक साहित्य जी और दोनों ही स्थानों पर उसके मूल रूप में क्षय की संभावना बढ़ी है। एक ओर जहां प्रचलित लोक साहित्य को सहेजना कठिन है तो दूसरी ओर लुप्त, बिखरे और फैले हुए लोक साहित्य का संकलन साहित्य कर्ताओं के लिए एक बड़ी चुनौती है। प्रत्येक क्षेत्र और समाज का अपना लोक साहित्य है। उस का संकलन करने से विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति और जीवन को नया रंग प्राप्त होगा। लोक साहित्य का अध्ययन आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है संपूर्ण विश्व में लोक साहित्य का आपसी समन्वय भी बन रहा है लोक साहित्य के संकलन में प्राप्त सामग्री का संपूर्ण विश्व में अनेक क्षेत्रों में उपयोग किया जा सकता है। लोक साहित्य के सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक शैक्षणिक नैतिक ऐतिहासिक एवं भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्व को देखते हुए आज इसके संकलन की सबसे बड़ी आवश्यकता महसूस होती है।

लोक कृतिकार

यह भ्रान्त धारणा घर कर गई है कि लोक रचनाओं का कोई रचनाकार नहीं होकर, वह रचना लोकरचित होती है। इस सृजन की ऊहापोह का समाधान भी आवश्यक है। लोकरचना का सृजक कोई समूह नहीं हो सकता। भावोन्माद में आकर कोई सृजक अपनी अनुभूति शब्दों अथवा प्रदर्शन द्वारा व्यक्त करता है। वह अनुभूति स्वाभाविक, सहज और अहैतुकी होने पर लोकसमूह द्वारा अपना ली जाती है, तब वह सृजन, लोकमानस की अभिव्यक्ति बन जाता है। उसका उत्स व सृजक विस्मृत हो जाते हैं और सारा लोकसमुदाय उसे अंगीकार कर एवं पूर्णरूपेण अपनत्व प्रदान कर, सृजक के स्थान पर आ बैठता है। आरम्भ में जो व्यक्तिपरक रचना रही थी वह फिर लोकमुख में स्थान पाकर सर्वजनीन बन जाती है। फिर युग प्रवाह में वह रचना बहती रहती है । वाचिक परम्परा के कारण उसके अंग संवर्धन द्वारा पुष्ट होते हैं तो उसके शुष्क अंश टूट भी गिरते हैं। लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति के कारण वह रचना सदैव हरी रहती है। अपने इन गुणों के कारण वह इतनी सक्षम होती है कि लोक मानस का अटूट अंग बन जाती है। उसके चिंतन में वह एकाकार हो जाती है।

लोक तत्व

लोकसमुदाय का एक मानस होता है। वह अपनी रूचि अथवा व्यवहार में आदिम, जंगली अथवा ऐन्द्रिक नहीं होता है। वह तो गतिशील तथा जीवंत समूह के कार्यकलापों को संचालित करता है। उसमें सहज विवेक एवं मंगल की भावना भी रहती है। वह अनायास ही, अनजाने अपना परिष्कार करता रहता है। उसमें कुछ ऐसे परम्परा जन्य व्यवहार और विश्वास अपना स्थान बनाये रहते है जो उसकी सहज प्रकृति व तर्क के अभाव में अपनी स्थिति को कालांतर में अधिक सुदृढ़ बना लेते हैं। उदाहरण के लिये शकुन के विश्वास को ही लें तो यह प्रकट होता है कि शकुन केवल विश्वास के कारण जीवन में जमे हुए हैं जब कि तर्क से यह सारे असंगत हैं। लोकविश्वासों के आधार पर ही कवि प्रसिद्धियाँ टिकी हैं। न किसी ने चकोर का अंगार भक्षण करना देखा है और न उसे रात्रि को चन्द्र की और टकटकी लगाए। सहज मानवी व्यवहारों के कारण ऋतु अनुकूल, पर्व और उत्सवों का आयोजन होता है जो लोक मानस द्वारा संचालित होता है। यह सब लोकतत्व के परिचायक हैं जिनमें रीति-रिवाजों के भूले व विस्मृत उपकरणों के कुछ अवशेष भी देखने को मिलते हैं। लोकसाहित्य अर्थात वाचिक परम्परा में जीवित रही रचनाओं में ऐसे अवशेष व तत्व बहुलता से मिलते भी हैं।

लोक-कला की मर्यादायें

- लोकमानस की युगीन-स्थिति का अद्यतन-रूप ।
- लोक-साहित्य विद्वानों, साहित्यकारों अथवा नगर के कलाविलासी व्यक्तियों को प्रसन्न करने के लिए नही लिखा जाता। यह कलाकार के व्यक्ति को उभारने अथवा यश दिलाने के लिए नही होता।
- लोक- मानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही यहाँ मुख्य होती है । यह लोक - मानस दो अवस्थाओ से सदा सम्पन्न रहता है
- लोकजीवन की अपनी दीर्घ परम्परा की मनोभावना से। इसमें हमें उत्तराधिकृत मनोविज्ञान की सामग्गी मिलती है। उत्तराधिकृत मनोविज्ञान से हमें निम्न बातें जानने को मिल सकती है
- आदिम मानव के क्या विश्वास और अनुभूतियाँ थी
- उन पर क्या ऐतिहासिक प्रभाव पड़े; उनसे कैसे विश्वासों और अनुभूतियों में विकार हुए?
- उन समस्त विश्वासों और अनुभूतियों के अवशेषो अथवा संशोधित रूपों का आज क्या रूप है- उनका क्या महत्व है, कौन कितना प्राणवान है, वह आज के लोकमानस को क्या प्रेरणा दे रहा है
- लोक जीवन में व्याप्त सामाजिक-सामूहिक भावना। पहली मनोवस्था युगीन स्थिति को प्रकट करती है; और इस दूसरी अवस्था का मूल- बिन्दु होती है। यह लोकमानव की अद्यतन स्थिति को प्रकट करती है।

लोक साहित्य का संकलन की समस्याएं

लोकसाहित्य के बारे में यह धारणा सर्वथा असत्य है कि वह केवल आदिम जातियों से ही संबंधित है। बदलते सामाजिक वातावरण में जबकि एक और सम्पर्क करने के साधन उपलब्ध हैं तो दूसरी और तकनीक और मीड़िया जैसे तीव्र गति से कार्य करने के साधन बढ़े हैं इससे ग्राम और नगर का एक बड़ा अंतर ही नष्ट हो रहा है। लोकसाहित्य का फैलाव गांवों से निकलकर हुआ है और आधुनिक चकाचौंध में उसके नष्ट होने की संभावना भी बढ़ी है। नगरों में लोकवार्ता की प्रायः उपेक्षा भी होती है तथा उसके शीघ्र परिवर्तन की संभावना बढ़ जाती है जिससे महत्वपूर्ण सामग्री लुप्त होने लगती है।

लोक साहित्य नगर में हों अथवा गांव में वह लोकसाहित्य ही है और दोनों ही स्थानों पर उसके मूल रूप में क्षय की संभावना बढ़ी है। एक और जहां प्रचलित लोक साहित्य को सहेजे रहना कठिन है तो वही दूसरी और गुमे, बिखरे और फेले हुए लोक साहित्य का संकलन साहित्यकर्ताओं के लिए बड़ी चुनौती है।

प्रत्येक क्षेत्र समाज और समुदायों का अपना लोकसाहित्य है। उसका संकलन करने से विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति और जीवन को नया रंग प्राप्त होगा।

लोकसाहित्य का अध्ययन आज की बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षा में इसे महत्वपूर्ण स्थान मिल चुका है तथा विश्वविद्यालयों में भी इसे विषय के रूप में स्वीकारा जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व में लोकसाहित्य का आपसी समन्वय भी बन रहा है। लोक साहित्य के संकलन में प्राप्त सामग्री का सम्पूर्ण विश्व में अनेक क्षेत्रों में उपयोग किया जा सकता है। संकलन की कार्य अनेक विधियों से किया जाता है, इसमें पर्याप्त सावधानी अपेक्षित है।

केन्द्रीय संगठन की उपयोगिता

लोकवार्ता और लोक साहित्य के संग्रह और सर्वेक्षण का कार्य कितने ही प्रकार के तात्विक ज्ञान और जटिल प्रक्रियाओं की अपेक्षा करता है, कोई भी शौकिया व्यक्ति अकेला उन सबसे युत नहीं हो सकता। लोकवार्ता का संग्रह वैज्ञानिक दृष्टि से तभी हो सकता है जब उसके लिए विधिवत् प्रशिक्षण का प्रबंधन हो, तथा विविध अपेक्षित बातों के ज्ञान संयुक्त एक टोली हो जिसमें (1) लोकवार्ताविद, (2) नृविज्ञानविद, (3) मूर्तिकार, (4) चित्रकार, (5) फोटोग्राफर, (6) टेप रिकाडिंगकर्ता, (7) त्वरालेखन दक्ष, (8) पुरातत्वविद हों।, केन्द्रीय संगठन के द्वारा ही ऐसी संग्रहकर्ता टोली खड़ी की जा सकती है फिर विधिवत कार्य करने में और भी जो व्यय पड़ते हैं उन्हें कोई संगठित केन्द्र ही भली प्रकार उठा सकता है। फलतः ऐसे संगठन की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

निष्कर्ष

लोक-साहित्य संकलन और संरक्षण में सबसे बड़ी चुनौती उसका वाचिक परंपरा में होना है। पूंजीवादी, उपभोक्तावादी स्थितियों, पश्चिमीकरण और तथाकथित नागर-संस्कृति आदि ने भी लोक-साहित्य के क्षरण में बड़ी भूमिका अदा की है। हमें सबसे पहले उन लोगों और स्थानों का चुनाव करना है, जहाँ लोक-साहित्य मिल सकता है। इसके बाद उनका विश्वास हासिल करना है। साथ ही, हमें उस क्षेत्र के देश-काल और स्थितियों का भी पहले ही विश्लेषण कर लेना चाहिए, जिस क्षेत्र से लोक-साहित्य का संकलन किया जाना है। इसके बाद उन्हें लिपिबद्ध और टेपित करने की जरूरत है, ताकि संकलित साहित्य का उचित सर्वेक्षण और संरक्षण किया जा सके।लोक जीवन में सभी प्राणियों सहित समस्त प्रकृति की सहभागिता और सहजीविता के प्रति आस्था निहित है। यही कारण है कि लोक साहित्य में पशु-पक्षी ही नहीं, पेड़-पौधे और पत्थर तक के द्वारा मानव समुदाय की भाषा बोलने और समझने का मोटिफ अत्यंत व्यापक रूप में प्राप्त होता है।ईर्ष्या-द्वेषजनित विकारों ने भी लोक साहित्य में क्रमशः अपना स्थान बनाया। उदाहरण के लिए, अधिकार भावना के पनपने और स्त्री को संपत्ति समझने की शुरूआत ने लोककथाओं में सौतेली माँ तथा दुखिया और सुखिया स्त्री के मोटिफ विकसित किए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अनुज, डॉ० भुनेश्वर, नागपुरी लोकसाहित्य, भुवन प्रकाशन, साहू टोली, बहुबाजार, राँची, 1992
2. अहमद, डॉ० जियाउद्दीन, विहार के आदिवासी, मोतीलनाल बनारसीदास बंगला रोड, जवहर नगर, दिल्ली, 1969

3. अनिल, डॉ० सन्तराम, कनौजी लोकसाहित्य, अभिनव प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, दिल्ली, प्रथम सं0 1975

4. आर्चर, डब्लयु० जी०, लील खोरआ खेखेल (पुस्तक भाग-1), भण्डार लहेरिया, सराय मु० हनुमान, 1941

5. उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव, लोकसाहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्रकाशन लि0 93 के०पी० कक्कड़ रोड़, इलाहाबाद, 1957

6. उत्प्रेती, कुन्दन लाल, लोकसाहित्य के प्रतिमान, अलिगढ़ द्वितीय संस्करण, 1980.

7. उराँव, कार्तिक, बीस वर्ष की काली रात, उराँव चौठी" अरा "उराँव महावीर," कुँड़ुख कत्थअइन अरा कत्थटूड़, 2005, काथलिक प्रेस, राँची, 834001

8. उराँव, डॉ० नारायण "सैन्दा" चिंचो डण्डी अरा खीरी नव झारखण्ड प्रकाशन, पुरूलिया रोड, राँची, 1, 2002

9. उराँव, जीतु, सिन्ध घाटी उराँव सभ्यता और जनजातीय भूमिका, पूर्णिमा प्रकाशन, चर्च रोड राँची, 2010

10. उराँव, जीतु, कुड़खर का प्रचीन इतिहास, सुदर्शन प्रेस चर्च रोड, राँची, 2005 उराँव, डॉ० हरि, हिन्दी भाषा एवं उराँव भाषा का तुलनात्मक अध्ययन के० के0 पब्लिकेशन, 618 कटरा, इलाहाबाद, 2010

11. उराँव, डॉ० हरि, (प्रधान सम्पादक) कुँड़ुख लोक साहित्य, 2013, झारखण्ड जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, मोरहाबादी, राँची, 834008 उराँव, सुखदेव, सरना दर्शन, अम्बेडकर मिशन प्रकाशन, डॉ० अम्बेडकर मार्ग

12. चितकोकहरा, पो० अनीशाबाद, पटना-2, प्रथम संस्करण, 1993 उराँव, रघुनाथ, सत्य सरना डहर, सत्य सरना प्रार्थना सभा, मदनपूर,

13. वरटोली, पिठौरिया, राँची (झारखण्ड) 2013 कुजूर, ब्र० मिखाइल, उराँव संस्कृति, कृषि विकास केन्द्र भूसाड़, चन्दवा, पलामु, 1993

14. कुजूर, श्री मंगरा, करम, विद्यालय प्रेस, तेलिनीपाड़ा हुगली (पं०बं०), 1999 कुजूर, विजय आशिष, उराँव भाषा साहित्य एक अध्ययन, साक्षी प्रिंटस, राँची 2007

15. कौण्डिन्य, डॉ० भिक्षु, मिसिंग जनजाति का लोकसाहित्य, आर्य प्रकाशन मण्डल, सरस्वती भण्डार, गांधीनगर, दिल्ली, 1989

16. खलखो, डॉ० शान्ति, उराँव संस्कृति परिवर्तन एवं दिशाएँ, उराँव विकास समिति, 2009

17. गुप्त, श्री राजेश्वर, चीन-बंगाल का जादू, देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, देहली, 6

18. गौतम, डॉ० सुरेश, एवं "गौतम डॉ० वीणा" भारतीय लोकसाहित्य कोश, खण्ड 3, संजय प्रकाशन, 4378/4 बी, 209, जे०एम०डी० हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2010

19. टेटे, वन्दना, आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, 222 / बी, प्रथम तल, गली नं0 33, पहला पुस्ता, सोनिया विहार दिल्ली, 2016

20. टोप्पो, एडमन, उराँव कत्थ खीरी अरा डण्डी, जनजातीय भाषा अकादमी, राँची 1976 (आई०ए० भाग) टोप्पो, एडमन, उराँव कत्थ खीरी अरा डण्डी, जनजातीय भाषा अकादमी, राँची 1976 (आई०ए० भाग)

21. टोप्पो, डॉ० इग्नासिया, खड़िया लोकगीतों की पहचान, काथलिक प्रेस, राँची, 2004